
इस माह से हम एक लेखमाला शुरू कर रहे हैं। इसका सम्बंध जैव विकास से है। जीव विज्ञान में जैव विकास एक महत्वपूर्ण व बुनियादी अवधारणा है। मशहूर रूसी जीव वैज्ञानिक थियोडोसियस डोबज़ेन्स्की ने तो कहा है कि जैव विकास की धारणा के बगैर जीव विज्ञान में किसी चीज़ का कोई अर्थ ही नहीं है। दरअसल, जैव विकास ऐसा विषय है जिसका सम्बंध न सिर्फ जीव विज्ञान से है बल्कि जीवन के हर क्षेत्र से है। खास तौर से जैव विकास के परिप्रेक्ष्य में प्रकृति में स्वयं के स्थान को देख पाना हमें एक नया दृष्टिकोण दे सकता है। यह लेखमाला प्रसिद्ध इकॉलॉजीवेत्ता प्रोफेसर माधव गाडगिल ने विकसित की है। ये आलेख मूलतः मराठी में लिखे गए थे।

जैव विकास 1: हम हैं कौन?

माधव गाडगिल

पौने चार अरब वर्षों पहले साधारण अणुओं के मिलन से शुरू हुए जीवन के सरस और चमत्कारी नाटक में आज पूरे एक करोड़ अजीबोगरीब पात्र शामिल हो गए हैं।

मानव एक अनोखा जंतु है। वह चूहे के समान घास के बीज खा लेता है, सूअर के समान कंदमूल भी खा सकता है, बगुले के समान केकड़ों और मछलियों को चट कर जाता है, शेर के समान जंगली सूअर का शिकार कर लेता है और यहां तक कि विशालकाय व्हेल मछली (जो वास्तव में मछली न हो कर स्तनधारी है) को भी खा जाता है जिसे अन्य कोई नहीं मार सकता। मनुष्य भूमध्य रेखा पर स्थित जंगलों से लेकर ध्रुवों के पास के बर्फीले रेगिस्तान तक फैल गया है।

ज्ञान प्राप्त करने की मानव की अथक पिपासा ही उसकी इस सफलता का राज है। मानव द्वारा सीखने की प्रक्रिया कम से कम साठ हज़ार वर्षों से चली आ रही है जबसे उसने भाषा का उपयोग करना शुरू किया। हमारे आसपास जो भी घटता रहता है उसके पीछे कौन-से नियम हैं, उसके क्या कारण हैं इसकी खोज हम लगातार करते रहते हैं। घटनाओं का अवलोकन और इस अवलोकन के आधार पर परिकल्पना का निर्माण करना मानव का अनोखा शौक है। प्राचीन मानव ने तो यह इसलिए किया ताकि उसका जीवन सुरक्षित हो सके, किंतु पृथ्वी पर स्थिर और सुरक्षित हो जाने के बाद, स्वार्थ के लिए नहीं किंतु स्वयं के ज्ञान में वृद्धि करने के लिए वह भांति-भांति के प्रश्न पूछते हुए उनके उत्तर खोजने लगा। हम हैं कौन?, कहां से आए

हैं?, कहां जा रहे हैं? इसी प्रकार के मूलभूत प्रश्न हैं। सारे मानव समाज प्राचीन काल से ही इन प्रश्नों के उत्तर खोजते रहे हैं। विभिन्न ज्ञान परम्पराओं में इनके अलग-अलग उत्तर मिलते हैं। विष्णु पुराण के अनुसार जीवसृष्टि बहुत प्राचीन और सतत परिवर्तनशील है। उसकी यात्रा धीमी गति से पहले उद्भिज (भूमि को भेद कर निकलने वाले यानी वनस्पति), स्वेदज (पसीने से उपजने वाले कृमि), अंडज (अंडे से निकलने वाली मछलियां, छिपकलियां, पक्षी) और फिर गर्भधारक पशु, उसके बाद मानव और उसके आगे चलते हुए यक्ष और फिर देवता ऐसे चढ़ते क्रम के चरणों में चल रही है। इसके विपरीत, बाइबल और कुरान के अनुसार जीवजगत को ईश्वर ने एक ही बार में, कुछ हज़ार वर्षों पहले वैसा ही बनाया था जैसा वह आज है। इन उत्तरों में से किसे स्वीकार किया जाए और किसे अस्वीकार, और किस आधार पर?

इन प्रश्नों के उत्तर खोजते-खोजते मानव के ज्ञान का भंडार बढ़ता ही चला गया। इस खोज से एक प्रभावशाली कार्य प्रणाली विकसित हो गई। यह है विज्ञान की कार्य प्रणाली। जीव जगत की उत्पत्ति और उसके बाद की उसकी यात्रा के बारे में आज हमारे पास गहरी समझ है। इस समझ को पुष्ट करने में सबसे बड़ा योगदान दिया है उन्नीसवीं शताब्दी के चार्ल्स डार्विन (1809-1882) नामक अंग्रेज़ वैज्ञानिक ने।

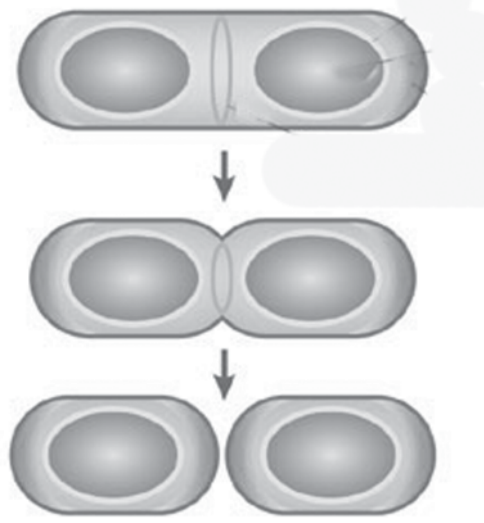
युवावस्था में डार्विन को बीगल नामक शोध-नौका पर प्रकृति के अध्ययनकर्ता के रूप में काम करने का सुनहरा

अवसर प्राप्त हुआ। इस यात्रा की शुरुआत में डार्विन के मन में भी उस समय की रूढ़ धारणाएं मज़बूती से जमी हुई थीं। इन धारणाओं के अनुसार सभी प्रजातियों का निर्माण ईश्वर ने एक ही समय में, आज जहां हैं उन्हीं स्थानों पर किया था और तब से वे वहीं, उन्हीं स्थानों पर, वैसी ही बनी हुई हैं। यह भी धारणा थी कि हर प्रजाति को बनाते समय ईश्वर के मन में उसकी एक आदर्श शरीर रचना थी। इससे अलग यदि कुछ दिखाई देता है तो उसमें कुछ दोष ज़रूर होगा। किसी भी प्रजाति के जीवों की यह प्रवृत्ति होती है कि वे सब एक समान, एक सांचे में ढले हुए हों। यदि कुछ विविधता दिखाई देती है तो वह एक विकृति है। किंतु यात्रा के दौरान डार्विन को जैसे-जैसे जीव जगत की असीमित विविधता समझ में आने लगी, भिन्न-भिन्न महाद्वीपों और टापुओं पर उसका विस्तृत स्वरूप दिखाई देने लगा, वैसे-वैसे उनके मन में कई सवाल उठने लगे। यदि ईश्वर ने सब प्रजातियों को जहां हैं, वहीं बनाया तो दक्षिण अमेरिका महाद्वीप पर पाई जाने वाली प्रजातियों और उसके समीप स्थित टापुओं पर पाई जाने वाली प्रजातियों में इतनी समानता क्यों है? और अफ्रीका महाद्वीप के पास स्थित टापुओं की प्रजातियां इतनी भिन्न क्यों हैं? मीठे पानी के भंडार वाले समुद्री टापुओं पर ऐसी छिपकलियां दिखाई देती हैं जो समुद्र के पानी में तैर सकती हैं, फिर मीठे पानी में आराम से रह सकने वाले पतली त्वचा वाले मेंढक वहां क्यों नहीं हैं?

डार्विन को लगने लगा कि सच्चाई यह है कि बड़े महाद्वीपों पर पहले प्रजातियों का विकास हुआ, फिर वे संयोगवश या दुर्घटनावश दूरस्थ टापुओं पर पहुंच गईं, और वे वहां की परिस्थिति के अनुरूप ढल गईं। चूंकि मेंढक समुद्र के खारे पानी में जीवित नहीं रह सकते, वे दूरी पर स्थित टापुओं पर नहीं पहुंच पाए किंतु समुद्र के पानी में तैर सकने वाली छिपकलियां पहुंच गईं। इन सब परिवर्तनों का मूल आधार है सब प्रजातियों में पाया जाने वाला विविधता का भंडार। इस प्राकृतिक विविधता से ही कालांतर में नए-नए रूपों वाली, शरीर रचना वाली और प्रकृति में नई भूमिका निभा सकने वाली प्रजातियां उपजीं।

डार्विन ने प्राकृतिक वरण (नेचुरल सिलेक्शन) की

बैक्टीरिया की दो हूबहू प्रतियां बनना



अवधारणा को और अधिक विस्तार देते हुए सुझाव दिया कि सभी जीवधारियों के क्रियाकलापों के मूल में दो प्रेरणाएं काम करती हैं - स्वयं की रक्षा और प्रजनन। सब जीवधारी अपने आप को सुरक्षित रखते हुए लगातार यह प्रयास करते रहते हैं कि उनकी संतानें संसार में सफलतापूर्वक जीएं।

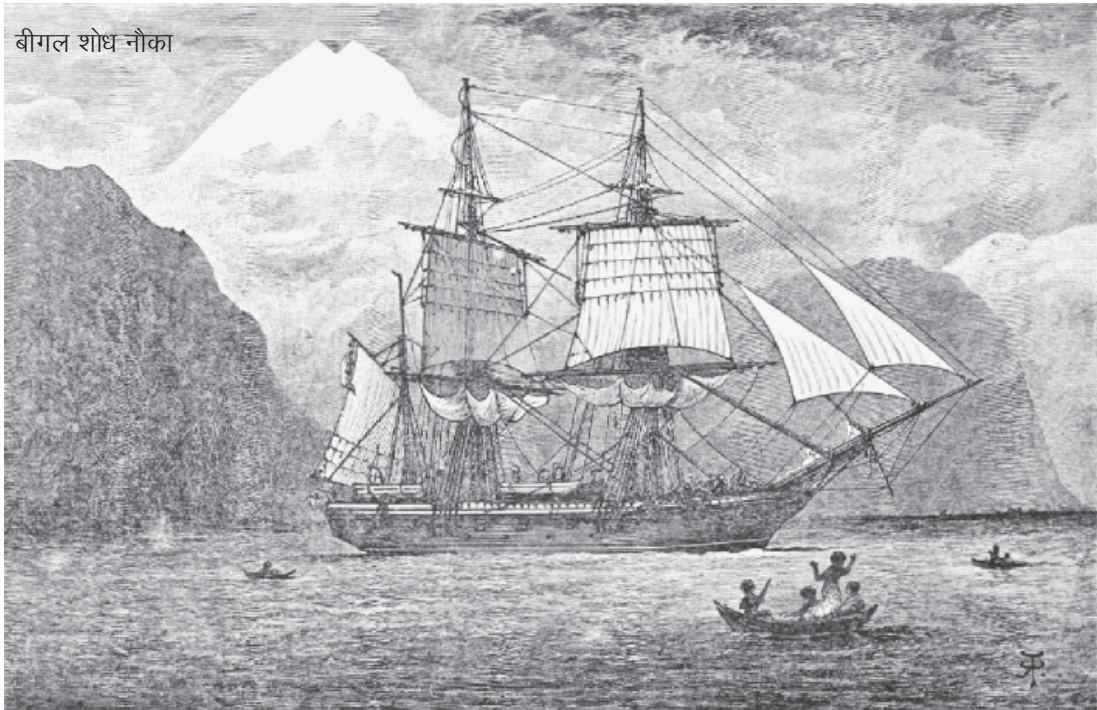
बैक्टीरिया का उदाहरण लें, जिनकी शरीर रचना बहुत सरल होती है। उनका प्रजनन होता है - एक सीधी रेखा के माध्यम से एक बैक्टीरिया की दो हूबहू प्रतियां बनना, फिर दो से चार, चार से आठ और कुछ ही दिनों में लाखों प्रतियां बनना। किंतु चाहे एक ही जीव से लाखों संतानें बनें फिर भी वे एक ही सांचे में ढली हुई बिलकुल एक समान नहीं होतीं। जीवधारियों की आनुवंशिकता के आधार यानी जीन्स की प्रतियां बनते समय कभी-कभी लाख-दस लाख में एकाध गलती हो ही जाती है। इस प्रकार की संयोगवश हुई गलतियों को उत्परिवर्तन कहते हैं और इनकी वजह से अगली पीढ़ी में कुछ अलग गुणधर्म प्रकट हो सकते हैं। प्रायः ऐसे नए गुणधर्म दोष के रूप में होते हैं, किंतु कभी बेहतर और अधिक गुणवान अवस्थाएं भी बन सकती हैं। यदि ऐसे बेहतर उत्परिवर्तनों के कारण वह जीवधारी अधिक सक्षम बन जाता है, उसकी संतानों की संख्या बढ़ जाती है, तो समुदाय में ऐसे बेहतर उत्परिवर्तनों वाले जीवधारियों की संख्या बढ़ने लगती है और धीरे-धीरे, शायद सैकड़ों पीढ़ियों

के बाद, सारे समुदाय में ऐसे बेहतर परिवर्तित जीन्स समाहित हो जाते हैं।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद चिकित्सा जगत में उस समय एक बड़ी क्रांति हुई थी जब मनुष्य ने एंटीबायोटिक दवाइयों का उपयोग शुरू किया था। इसके द्वारा टीबी जैसे कई खतरनाक रोगों पर काबू पाया जा सका। पेनिसिलियम और इसके जैसी कुछ अन्य फंफूँदें बैक्टीरिया को नष्ट करने के लिए बैक्टीरिया-नाशी पदार्थ बनाती हैं। इनका उपयोग करके हम भी रोग पैदा करने वाले बैक्टीरिया को हरा सकते हैं। किंतु बैक्टीरिया में ऐसे उत्परिवर्तन हो जाते हैं जो उन्हें एंटीबायोटिक दवाइयों से बचाने में मददगार होते हैं। जिन बैक्टीरिया में एंटीबायोटिक दवाइयों का सामना कर सकने वाले जीन नहीं होते वे तो दवा से मारे जाते हैं, किंतु जो बैक्टीरिया प्रतिरोधी जीन्स से लैस होते हैं वे बच जाते हैं और समुदाय में उनकी संख्या बढ़ने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि जिन रोगों पर पहले आसानी से काबू पाया जा सकता था उनका उपचार करना मुश्किल हो जाता है।

यही है डार्विन की प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया का एक नमूना। इस प्रक्रिया में केवल संयोगवश एंटीबायोटिक दवाइयों का असर न होने वाले, बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप जीवन बनाए रखने में और प्रजनन में अधिक सक्षम जीवधारी लगातार उपजते रहते हैं।

डार्विन ने अपना सिद्धांत 1859 में प्रकाशित *ओरिजिन ऑफ़ स्पीशीज़* नामक पुस्तक के माध्यम से प्रतिपादित किया था। इसके फलस्वरूप वैज्ञानिक जगत में तहलका मच गया और इसका विरोध भी खूब हुआ। किंतु पिछले डेढ़ सौ वर्षों में जैव विकास के बारे में नए प्रमाण सामने आते गए और आज वह वैज्ञानिक जगत में मान्यता प्राप्त सिद्धांत बन गया है। हम कौन हैं, कहां से आए हैं, कहां जा रहे हैं, आदि प्रश्नों के अब तक जो उत्तर मिले हैं वे काफी समृद्ध और ठोस हैं। किंतु इसका यह मतलब नहीं है कि सारे विवाद समाप्त हो गए हैं। विज्ञान में अंतिम सत्य नाम की कोई चीज़ नहीं होती। इस लेखमाला के माध्यम से मैं पाठकों के सामने जैव विकास की यात्रा की एक झलक प्रस्तुत करने का प्रयास करने वाला हूँ। (*स्रोत फीचर्स*)



बीगल शोध नौका